विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com

vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

विक्रमकालीन वाणिज्य व शिल्प के उल्लेख
डॉ. किरण शर्मा

पृष्ठ क्र. 3-4

कालिदास युगीन भारत की सामाजिक पृष्ठभूमि
राजेन्द्र सारस्वत

पृष्ठ क्र. 5-6

उपनिषदों का विश्व साहित्य में महत्व
विजय कुमार वशिष्ठ

पृष्ठ क्र. 7

इतिहास और पुराण का महाजनपद अंग
राजवीर सिंह

पृष्ठ क्र. 8

भारतीय परंपरा में वेद और वैदिक संस्कृति
मिथिलेश यादव

विक्रमकालीन वाणिज्य व शिल्प के उल्लेख

डॉ. किरण शर्मा

सम्राट विक्रमादित्य, शकों, कुषाणों और सातवाहनों का (200 ई.पू. 200 ई.) और प्रथम तमिल राज्यों का युग प्राचीन भारत के शिल्प और वाणिज्य के इतिहास में चरम उत्कर्ष का काल था। इस काल में कलाओं और शिल्पों का विलक्षण विकास हुआ। इस काल के ग्रंथों में हम शिल्पियों के जितने प्रकार पाते हैं, उतने पहले के लेखों में नहीं पाते। मौर्यपूर्व काल के दीघनिकाय में लगभग चौबीस प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख है तो इसी काल के महावस्तु में राजगीर में रहने वाले 36 प्रकार के व्यवसासियों का उल्लेख है और फिर भी सूची अधूरी है। मिलिन्दप्रश्न में तो 75 व्यवसाय गिनाये गये हैं, जिनमें 60 विविध प्रकार के शिल्पों से संबंध हैं। साहित्यिक स्रोतों में तो शिल्पियों को अधिकतर नगरों से जोड़ा गया है, किन्तु कुछ उत्खननों से प्रकट होता है कि वे गाँवों में भी बसते थे। तेलंगाना स्थित करीमनगर के एक गाँव में बढ़ई, लोहार, सोनार, कुम्हार आदि अलग–अलग टोलों में रहते थे और कृषि, मजदूर तथा अन्य मजदूर एक–दूसरे छोर पर बसते थे।

शिल्प और वाणिज्य में बढ़त और मुद्रा के अधिकाधिक प्रयोग के परिणामस्वरूप इस काल में अनेकानेक नगरों की श्रीवृद्धि हुई। वैशाली, पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशाम्बी, श्रावस्ती, हस्तिनापुर, मथुरा, इन्द्रप्रस्थ (नई दिल्ली का पुराना किला) इन सभी उत्तर भारतीय नगरों के उल्लेख साहित्यिक ग्रंथों में मिलते हैं और कुछ नगरों का वर्णन चीनी यात्रियों ने भी किया है। अधिकतर नगर ईसा की पहली और दूसरी सदियों में कुषाण काल में फूले–फले, ऐसा उत्खननों के आधार पर कहा जा सकता हैं, क्योंकि उत्खननों से कुषाण युग की उत्कृष्टतर संरचनाएँ प्रकट हुई हैं। इनसे यह भी प्रकट हुई हैं। इनसे यह भी प्रकट होता है कि बिहार के कई स्थल, जैसे चिराँद, सोनपुर और बक्सर आदि तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के कई स्थल, खैराडीह और मासोन कुषाण काल में समृद्ध थे। इसी तरह उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद के पास शृंगवेरपुर, सोहगौर, भीटा और कौशाम्बी तथा मेरठ, मुजफ्फरनगर जिलों में अतरंजीखेरा और कई अन्य स्थल कुषाण काल में उन्नति पर थे। हम शृंगवेरपुर और चिराँद दोनों स्थलों पर बहुत सी कुषाण कालीन ईट–संरचनाएँ पाते हैं। मथुरा में सोंख के उत्खनन में कुषाण अवस्था के सात स्तर दिखाई देते हैं, जबकि गुप्त अवस्था का केवल एक स्तर है। फिर, पंजाब के अन्तर्गत जालन्धर लुधियाना और रोपड़ में, कई स्थलों पर कुषाण काल की अच्छी संरचनाएँ पाते हैं।

हरियाणा में खोदे गये स्थलों का भी यही हाल हैं। कई जगह तो कुषाण कालीन संरचनाओं से निकली पुरानी ईंटों से गुप्त काल में बनी भोंडे ढंग की संरचनाएँ भी मिली हैं। कुल मिलाकर कुषाण अवस्था के बताये गये भौतिक अवशेषों से प्रतीत होता है कि नगरीकरण उत्कर्ष की चोटी पर पहुँच गया था। मालवा और पश्चिमी भारत के शक राज्य के बारे में भी यह बात लागू है। सबसे महत्वपूर्ण नगर उज्जयिनी था, क्योंकि यहाँ दो बड़े मार्ग मिलते थे एक कौशाम्बी से आने वाला और दूसरा मथुरा से। इसका महत्व इसलिए भी था कि यहाँ से अगेट (गोमेद) और कार्नेलियन (इन्द्रगोप) पत्थरों का निर्यात होता था। उत्खननों से ज्ञात होता है कि यहाँ 200 ई.पू. के बाद मणि या मनके बनाने के लिए गोमेद, इन्द्रगोप और सूर्यकान्त (जैस्पर) रत्नों का काम बड़े पैमाने पर होता था। यह सम्भव था, क्योंकि क्षिप्रा नदी की तले के फाँसों से ये पत्थर प्रचुर मात्रा में प्राप्त किये जा सकते थे। शक और कुषाण काल के समान ही, सातवाहन राज्य में नगर उन्नति करते रहे। सातवाहन काल में पश्चिमी और दक्षिणी भारत में तगर (तेर), पैठान, शन्यकटक, अमरावती, नागार्जुनकोंडा, मडौच, सोपारा, अरिकमेदु, कावेरी–पट्टनम ये सभी समृद्ध नगर थे। तेलंगाना में कई सातवाहन बस्तियाँ खुदाई में निकली हैं। इनमें से कुछ तो आन्ध्रों के दीवार घिरे उन तीस नगरों में से होंगे, जिनका उल्लेख प्लिनी ने किया है। उनका उदय आन्ध्र

के तटवर्ती शहरों से काफी पहले, परन्तु पश्चिमी महाराष्ट्र, आन्ध्र और तमिलनाडु में नगरों का हास सामान्यतः ईसा की तीसरी सदी के मध्य से या उसके बाद से शुरू हो जाता हैं। कुषाण और सातवाहन साम्राज्यों में नगरों की उन्नति इसलिए हुई कि रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार बहुत अच्छा चल रहा था। भारत रोमन साम्राज्य के पूर्वी भाग और मध्य एशिया के साथ भी व्यापार करता था। पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में नगर इसलिए फूलते–फलते रहे कि कुषाणशक्ति का केन्द्र पश्चिमोत्तर भारत था।

भारत में अधिकतर कुषाण नगर मथुरा से तक्षशिला जाने वाले पश्चिमोत्तर मार्ग या उत्तरापथ पर पड़ते थे। कुषाण साम्राज्य में मार्गो पर सुरक्षा का प्रबंध था। ईसा की तीसरी सदी में उसका अन्त होने से इन नगरों को गहरा धक्का लगा। शायद यही बात दकन में भी हुई। तीसरी सदी से जब रोम साम्राज्य ने भारत के साथ व्यापार पर प्रतिबंध लगा दिया, नगर अपने शिल्पियों और वणिकों का भरण–पोषण करने में असमर्थ हो गए। दकन में हुई खुदाईयों से भी सातवाहन अवस्था के बाद से नगर बस्तियों का हास होना लक्षित होता हैं। भारतीय इतिहास में विक्रम संवत् का जितना महत्व है, उतना किसी अन्य संवत् का नहीं। विक्रम संवत् के प्रवर्तक सम्राट विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में जो गतिरोध पूर्व में था, अब दूर हो रहा हैं। इसका आधार डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित के मार्गदर्शन में हो रहे शोधकार्य है। विक्रम संवत् का प्रवर्तन ईसा पूर्व 57 में उज्जैन के शासक विक्रमादित्य द्वारा किया गया था। ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में मध्यभारत में अन्य राजनैतिक शक्तियाँ कौन–कौन सी थी, उनके अन्तराल में उज्जैन पर मालवा का आधिपत्य किस प्रकार हुआ यह सब पुरा प्रमाणों से स्पष्ट होता जा रहा है। ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी में सिन्ध क्षेत्र से पंजाब राजस्थान में कई गणराज्य थे, सिकन्दर के आक्रमण के कारण इन गणराज्य ने दक्षिण व दक्षिण पूर्व की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। इन गणराज्यों में मालवा गण भी था, जिसने शुद्रक गण के साथ मिलकर सिकन्दर से लोहा लिया था। मौर्यकाल में मगध की साम्राज्यकारी नीति के इन गणराज्यों को न केवल आधीनता स्वीकार करनी पड़ी, अपितु क्षेत्र भी बदलने पड़े। इनमें यौधेय, मद्र, शिनि, कुकुर, वृष्णि, आभीर, मालव, शुद्रक, अर्जुनायन आदि गणराज्य ईसा पूर्व की शताब्दियों में अस्तित्व में रहे। इसी आधार पर जनपद स्थापित हुए। इनमें उज्जैन में मालव, एरण में आभीर, त्रिपुरी आदि के शासकों में सिक्के प्रचलित किये हैं। पुराणों के विवरण में गर्दभिल्ल वंश का वर्णन मिलता है. जिसे मालव गण की शाखा के रूप में माना गया है। मालवगण की अन्य शाखाओं में दशपुर के औलिकर, माध्यमिका के सोगी थे। पुराणों एवं जैन साहित्य में गर्दभिल्ल वंश का विवरण है। मत्स्यपुराण में आन्ध, आभीर गर्दभिल्ल, 18 शक राजाओं के शासन करने का उल्लेख है। ब्रह्माण्डपुराण, वायपुराण में भी इसी प्रकार का विवरण दिया गया है। पं. सूर्यनारायण व्यास ने पौराणिक विवरण के आधार पर 7 गर्दभिल्ल शासकों के नाम दिये हैं। इनमें दर्पव, जलमित्र, भानुमित्र, नभसेन, भाईल्ल, नाईल्ल, नाहड़ है। अन्य साहित्यिक विवरण के आधार पर

विद्वानों ने विक्रमादित्य को गर्दभिल्ल का पुत्र बताया है। पौराणिक विवरण में विक्रमादित्य के समकालीन अथवा पूर्व के शासकों पर प्रकाश डाला जाना आवश्यक है। वृहत्कथामञ्जरी, कथासरित्सागर में रामायण के सम्राट विक्रमादित्य के पिता के बारे में बताया गया है। जैन पट्टिकावलियों तथा जीवन वृत्तान्तिक ग्रंथों में विक्रमादित्य के पिता गर्दभिल्ल का उल्लेख है।

डॉ. राजबली पांडे के अनुसार गर्दभिल्ल व्यक्ति का नाम न हो कर वंशनाम है। जैन विद्वान मेरुतुडक की विचारश्रेणी से ज्ञात होता है कि गर्दभिल्ल एक बहुत बड़े समुदाय की एक शाखा था। इस ग्रंथ में विशाला (उज्जयिनी) का राजवंशिक इतिहास देते हुए विक्रमादित्य को 'मालवराय' बताया गया है। मालवराय से तात्पर्य मालवगण से है। मालवगण की एक नान्दसा यूपलेख में इक्ष्वाकुओं द्वारा स्थापना और प्रथित राजर्षियों के मालवा वंश में उदित होने का उल्लेख हैं। मालववंश की उपजाति सोगी ने चित्तौड़ व राजस्थान का भूभाग, औलिकर ने दशपुर परिक्षेत्र तथा गर्दभिल्ल ने उज्जैन को अपना मुख्यालय बनाया था। पौराणिक विवरण में गर्दभिल्लों के साथ आभीर व आन्ध्रों का भी उल्लेख है।

कालिदास युगीन भारत की सामाजिक पृष्ठभूमि

राजेन्द्र सारस्वत

महाकवि कालिदास कृतियों में, विशेष रूप से 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में गृहस्थ जीवन का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन हुआ है। उसमें कन्या की विदाई के जिस मार्मिक पक्ष का वर्णन किया गया है उसके कारण यह नाटक विश्व की सर्वोच्च कृतियों में सहज ही स्थान पा गया है। भारतीय गृहस्थ के लिए कन्या का जन्म बड़ा ही क्लेशकारी रहा है। पिता के वात्सल्य, माता की ममता, भाई–बहनों का प्रेम और सखी सहेलियों का साथ छोड़कर सदा के लिए जब उसे पराये घर में जाना होता है, तब उसकी वह स्थिति अत्यन्त ही करुणाजनक हुआ करती है। इस प्रसंग का चित्रण कालिदास ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है। गृहस्थाश्रम में रहने वाले लोगों के लिए कन्या का वियोग असह्य तो होता ही है, किन्तु एक संसारत्यागी एवं संयमधनी तपस्वी का हृदय भी उससे द्रवित हुए बिना नहीं रहता। आज शकुन्तला पतिगृह को जा रही है। इस विचार से ही मेरा हृदय दुःख से भर गया है। कण्ठ गद्‌गद् हो रहा है। चिन्ता से दृष्टि जड़ हो गयी है। वनवासी होकर भी यदि मैं कन्या की विदाई से इतना व्याकुल हो सकता हूँ, तो उन गृहस्थों की क्या दशा होती होगी?

कालिदास ने वैदिक परम्परा के अनुसार स्त्रियों के कुलधर्म का बड़ी सतर्कता से अत्यन्त संयत रूप में वर्णन किया है। उन्होंने सामाजिक जीवन मे स्त्रियों की स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। वे सुशिक्षित हुआ करती थीं और उन्हें धर्मानुराग के लिए इतिहास पुराण तथा कलानुराग के लिए ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। उनके बिना गृहस्थ का कोई भी धार्मिक कृत्य सम्पन्न नहीं होता था। पति–वरण के लिए वे स्वतन्त्र थीं, यथा पार्वती ने शिव का वरण स्वयं किया। शकुन्तला ने दुष्यन्त का और इन्दुमती ने अज का। स्वयंवरों का आयोजन पतिवरण की स्वतन्त्रता का द्योतन करता है। समाज में स्त्रियों का सम्मानजनक स्थान था। वे घर की सर्वस्व हुआ करती थीं।

सार्वजनिक क्रीड़ा, उत्सवों में भाग लेने के लिए उन्हें पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी। शील और मर्यादा आदि सद्‌गुणों का पालन करना उनके स्वभाव की विशेषता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि आज की ही भाँति तब भी पारिवारिक सम्बन्धों के निर्वाह के प्रति सजगता बरती जाती थी। संयुक्त परिवारों का प्रचलन अधिक था। परिवार के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्वाह का दायित्व प्रत्येक पारिवारिक पर होता था। परिवार संस्था का इस दृष्टि से भी महत्व था कि वही सामाजिक रचना का आधार थी। अतिथि सेवा गृहस्थ जीवन का सर्वोत्तम कर्तव्य था। पारिवारिक जीवन में शिष्टाचार का विशेष महत्व माना जाता था। कालिदास के ग्रंथों से तत्कालीन भारत की शिष्ट एवं समुन्नत संस्कृति का दिग्दर्शन हुआ है। सामाजिक जीवन के जो विभिन्न पारस्परिक सम्बन्ध है, उनके निर्वाह की विधियों का आदर्शमय निरूपण कालिदास की कृतियों में हुआ है। गुरु से शिष्य का आचरण किस प्रकार होना चाहिए, माता–पिता के प्रति

पुत्र का व्यवहार कैसा होना चाहिए, ऋषियों एवं त्यागी पुरुषों के समक्ष राजा का किस विनयभाव से व्यवहार करना चाहिए, इसी प्रकार छोटों का बड़ों के प्रति और बड़ों का छोटों के प्रति कैसा आचरण होना चाहिए, इन शिष्टाचार सम्बन्धी बातों पर कालिदास की कृतियों में बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। तत्कालीन भारत में समाज निर्माण और चारित्रिक उत्थान की दृष्टि से शिक्षा–दीक्षा का सुप्रबन्ध था।

धर्मशास्त्र के अनुसार तीनों वर्षों के लोगों के लिए शिक्षा काल की वय तथा अवधि नियत थी। पुरुषों के ही समान स्त्रियों को भी शिक्षा प्राप्त करने की स्वतन्त्रता थी। स्त्रियाँ बहुधा कला–कौशलों में दक्ष हुआ करती थीं। कौत्स तथा वरतन्तु पारस्परिक सम्बन्ध तत्कालीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का अनुकरणीय उदाहरण है। ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में दो

भाषाएँ प्रचलित थी–संस्कृत और प्राकृत। उच्चकुलीन समाज में संस्कृत का प्रचलन था और स्त्रियाँ तथा दास–दासी–सेवक आदि प्राकृत का व्यवहार करते थे। वेद और उसके षडंगों का विधिवत अध्ययन–अध्यापन होता था। तत्कालीन धार्मिक स्थिति का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि समाज में ब्राह्मणधर्म की प्रधानता थी। यज्ञ–हवन आदि कर्मों के निष्पादन का आधार स्मृतियाँ थी।

लगभग दूसरी शती ई.पू. में मौर्य साम्राज्य के बौद्ध धर्मावलम्बी अन्तिम शासक बृहद्रथ को मारकर पुष्यमित्र शुंग ने ब्राह्मणधर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया था, जिसकी परम्परा शुगभृत्य आधों के समय, अर्थात् ई.पू. प्रथम शती तक अक्षुण्ण रूप में बनी रही। यद्यपि ब्राह्मणधर्म के अतिरिक्त बौद्धधर्म और जैनधर्म भी प्रचलित थे, तथापि अपनी अनीश्वरवादी प्रवृत्ति के कारण बौद्धधर्म का प्रभाव शिथिल पड़ गया था, जब कि जैनधर्म अपनी तप, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि सदाचारों एवं सुधारवादी प्रवृत्तियों के फलस्वरूप सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुए था। ब्राह्मणधर्म के इस पुनर्जागरण के कारण जहाँ एक ओर आर्यों तथा आर्येतरों में पारस्परिक समन्वय की भावना का उदय हुआ, वहीं दूसरी ओर ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों ब्राह्मण देवताओं का महत्व बढ़ने लगा। कालिदास स्वयं शेव थे, किन्तु विष्णु के प्रति भी उनकी वैसे ही गहन निष्ठा थी। उन्होंने सभी धर्मों, नतों और देवताओं का एक ही अन्तिम लक्ष्य बताते हुए रघुवंश (10.26) में लिखा है कि जैसे गगाजी की सभी धाराएँ अन्ततः समुद्र में जा निलती है, उसी प्रकार परमानन्द को प्राप्त करने के जितने भी मार्ग या साधन विभिन्न शास्त्रों में नाना रूपों ने निरूपित हुए हैं, उन सब का एक ही अन्तिन लक्ष्य में समन्वय हो जाता है। कालिदास की कृतियों में यद्यपि तत्कालीन भारत की आर्थिक स्थिति पर विशेष रूप से प्रकाश नहीं डाला गया है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में आर्थिक विषमता नहीं थी। सारा समाज अपने–अपने उद्यन एवं नियत कर्मों के अनुसार उपार्जन करता हुआ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। देश ने परम्परानुगत कृषि कार्य की प्रधानता थी। कृषि से जी, धान, तिल, दाल, मसाले आदि पदार्थ यथेष्ट नात्रा में उत्पन्न होते थे। दूध, घी, शक्कर, गुढ़ तथा मधु आदि की कमी नहीं थी। पशु धन उस युग की सुदृढ़ अर्थ–व्यवत्या का आधार था। देश के आर्थिक जीवन के स्रोत छोटे–बड़े उद्योग–धन्धे पर्याप्त उन्नति पर थे। सूती, रेशमी तथा महीन मलमल के वस्त्रों के निर्माण में देश सर्वतोभावेन सम्पन्न था। भेंड–बकरियों के पालन और उनके ऊन से वस्त्रोद्योग की स्थिति उन्नत थी। धातु उद्योग भी स्थापित थे। कताई, बिनाई, कढाई, सिलाई आदि की गृह कलाएँ प्रगति पर थीं। काष्ठ कार्य बहुत आगे बढ़ा हुआ था। लोहार, सुनार तथा बढ़ई आदि शिल्पियों की स्थिति उन्नत थी।

जल और स्थल मार्गों से द्वीपान्तरों के साथ भारत के व्यापारिक संबंध सुदृढ़ थे। हाथीदाँत, सुवर्ण, रजत आदि विभिन्न प्रकार के मणि–माणिक्यों का व्यापार होता था। अभिज्ञान शाकुन्तल में ऐसे सार्थवाह (कारवो) का उल्लेख हुआ है, जो समुद्र मार्ग से यात्रा करता था। उस युग में उज्जयिनी की देश के प्रमुख व्यापार केन्द्रों में परिगणना थी। कालिदास ने चीनाशुक का उल्लेख किया है, उससे ज्ञात होता है कि इस प्रकार के मूल्यवान रेशमी वस्त्रों का चीन से आयात होता था। किन्तु भारत भी इस दृष्टि से उन्नत था। देश में महीन मलमल का निर्माण होता था, जिसकी द्वीपान्तरों में बड़ी खपत थी। रोम, चीन, बाली, जावा, सुमात्रा और श्रीलंका से विशेष व्यापारिक सम्बन्ध थे। कालिदास सौन्दर्य एव प्रणय के कवि थे। जड़–चेतन, प्रकृति–मानव, समस्त चराचर में सर्वत्र ही उनकी दृष्टि सौन्दर्य एवं प्रणय पर ही केन्द्रित रही है। उनकी यह सौन्दर्यानुभूति सर्वथा निजी है। उसमें व्यापकता है। प्रकृति में व्याप्त अथाह सौन्दर्य को मानवीय सौन्दर्य में अवतरितकर उन्होंने उसके विभिन्न पक्षों का अत्यन्त मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है। कालिदास ने सौन्दर्य की परिणति प्रेम में दिखायी है। उनकी दृष्टि से यह प्रेम चाहे प्रकृतिजन्य हो या मानवजन्य, अकारण ही नहीं हो जाता। अपितु उसके मूल में पूर्वजन्म के सुकृत विद्यमान रहते हैं और बिना प्रेरणा तथा योजना के मन उधर आकृष्ट नहीं होता।

अभिज्ञान शाकुन्तला में उन्होंने प्रेम की इस स्थिति का सुन्दर चित्रण किया है। कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में पार्वती का चित्रण करते हुए कालिदास ने सौन्दर्य की सुष्ठु, मनोहर एव सयत अवस्थाओं का वर्णन किया है। पार्वती के रमणीय आनन पर हास्य रेखा का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा हैः यदि जूही की कलियों चुनकर अरुण वर्ण कोमल किसलयों पर सजाकर रख दी जायें या लाल पुष्प पर मोतियों के दाने तरतीब से बैठा दिये जायें, तब कहीं जाकर पार्वती के अरुण अधरों पर खेलने वाली मुस्कुराहट की उपमा दी जा सकती है। कालिदास ने प्रेम की अनेक कोटियों का व्यापक चित्रण अपने ग्रथों में किया है। अपनी प्रिया से सुदूर विदेश में जीवन यापन करने वाले यक्ष का प्रणय निवेदन जितना कवित्वसंग है, उतना ही यथार्थ भी। कालिदास की यह सौन्दर्य भावना उनके उदात्त कविकर्म को अभिव्यक्त करती है। उनके कवित्व में सर्वत्र ही उनकी सौन्दर्य भावना के दर्शन होते हैं। वियोग, संयोग, करुण, शान्त आदि वर्जनों ने, प्रकृति, मानव, कला, संस्कृति आदि सभी सन्दर्भों में कालिदास की रुचिर सौन्दर्य भावना सर्वत्र दर्शित है।

तत्कालीन समाज में मनोरंजन के अनेक साधन विद्यमान थे। मुख्य रूप से नृत्य, संगीत, चित्रकारी, आखेट, जलक्रीड़ा, अक्षक्रीड़ा और सुरापान गोष्ठियों का समाज में व्यापकता से प्रचलन था। कालिदास की कृतियों में सामाजिक जीवन की सौंदर्यप्रियता का विशद् विवण हुआ है। तत्कालीन समाज द्वारा धारण किये जाने वाले वस्त्राभूषणों और नाना प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनों का कालिदास के प्राय सभी ग्रन्थों में वर्णन हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि वस्त्र–उद्योग तब अपनी उन्नतावस्था में था।

उपनिषदों का विश्व साहित्य में महत्व

विजय कुमार वशिष्ठ

भारतीय संस्कृति में जो सार्वभोम विश्वजनीन आदर्श निहित हैं उनका एकमात्र स्रोत उपनिषद् ही हैं। विश्व के प्रबुद्ध विचारकों द्वारा आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध में जो गहन चिन्तन और सूक्ष्म विचार हुआ उसमें उपनिषद् साहित्य बड़े महत्व का है। जिस राष्ट्र ने उपनिषदों का सृजन किया उसके सांस्कृतिक धरातल का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। विभिन्न बाहरी शासकों के साथ भारत में प्रविष्ट अत्यन्त प्रचण्ड, प्रखर एवं क्रूर सभ्यताओं को भारतीय संस्कृति ने बड़ी सुगमता से आत्मसात कर लिया। उपनिषदों द्वारा भारतीय संस्कृति को जो शाश्वत आदर्श प्राप्त हुए हैं, उनकी वास्तविकता को समझने वाले लोगों की संख्या में निस्तर वृद्धि हो रही है। भारत में वैचारिक एवं आत्मचिन्तन की दृष्टि से जो चरम विकास हुआ उसी के सृजक उपनिषद् हैं। यद्यपि ब्राह्मण–ग्रन्थों से लेकर उपनिषदों तक का सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय मूल संहिताओं का ही व्याख्यान–रूप है, फिर भी उनमें विषय भिन्नता के अतिरिक्त, व्याख्यान पद्धति में भी अन्तर है। वेदों में कर्म और ज्ञान का समन्वय है। कर्म और ज्ञान की ये दोनों विचारधाराएँ धर्म पर आधारित है। ब्राह्मणों तथा आरण्यको में धर्म की स्थूलता तथा उपनिषदों में उसकी सूक्ष्मता का निरूपण हुआ है। धर्म की भूमिका पर उपनिषदों में आत्मा के अमरत्व की खोज की गयी है। उपनिषद् ही ऐसे प्रथम ज्ञान–ग्रन्थ हैं, जिनमें धर्म को मानवता के योग, श्रेय तथा मोक्ष की उपलब्धि का एकमात्र साधन माना गया है। उपनिषदों के ऋषियों ने जीवन की शाश्वत मान्यताओं के सम्बन्ध में सर्वप्रथम गम्भीर अध्ययन तथा विचार किया।

उपनिषदों के निर्माता आध्यात्मिक और पार्थिव तत्वों की खोज में प्राचीन यूनान और मध्ययुगीन यूरोपीय दार्शनिकों से बहुत आगे बढ़े हुए थे। उनका अमरता (मोक्ष) का सिद्धान्त एक मंगलमयी सृष्टि की सुकामना थी, जिससे विश्व के प्राचीन तथा आधुनिक तत्ववेत्ता प्रभावित हुए। उत्तर वैदिकयुगीन साहित्य की परम्परा में आरण्यक ग्रन्थों के अनन्तर उपनिषदों का स्थान है। वैदिक साहित्य के अन्तिम अंग होने के कारण उपनिषदों को वेदान्त नाम दिया गया। इनमें आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान और ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। अतः परवर्ती साहित्य में उन्हें आत्मविद्या, मोक्षविद्या और ब्रह्मविद्या से भी अभिहित किया गया है। जो विद्या समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले सांसारिक क्रिया कलापों का नाश कर देती है, जिसके द्वारा संसार के कारणभूत अविद्या के बन्धन शिथिल या समाप्त हो जाते हैं और जिससे ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है, वही उपनिषद् (उप्निसद्) विद्या उपनिषदों का प्रतिपाद्य है। वैदिक ऋषियों की ज्ञानदर्शी शाखा ने जीवन और जगत् की वास्तविकता का पता लगाने के लिए मौलिक तात्विक शक्तियों का अन्वेषण एवं मनन–चिन्तन करने के उपरांत जो मन्तव्य स्थिर किये उन्हीं का निष्कर्ष उपनिषदों में है। इस ऋषि–शाखा ने सर्ग, स्थित और लय के सनातन त्रैविध्य के कारणों पर अनुसन्धान कर मन्तव्य प्रकट किया कि वह एक ऐसा चक्र है, जिसका न तो आदि है और न अन्त है। इस महाचक्र का संचालक एवं सूत्रधार एक ऐसी स्वतः सम्पूर्ण पृथक् सत्ता है। जो अक्षुण्ण, अविकृत और अखण्ड है। तत्त्व–चिन्तकों ने उसे परबा, परमेश्वर, परमात्मा और ईश्वर आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया है। व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपों में इस परम सत्ता का आधान है। उसे प्राप्त करने का एक मात्र साधन ज्ञान है। ज्ञान क्या है और उसके द्वारा जीवन तथा जगत् की वास्तविकता को कैसे हृदयंगम किया जा सकता है, इसका निरूपण उपनिषदों में ही विद्यमान है। उपनिषद् तर्कप्रधान ग्रंथ हैं। उनमें तर्क द्वारा वस्तु की यथार्थता का विवेचन किया गया है। तर्क ही प्रमाण है और वही ज्ञान की उत्पत्ति का स्रोत भी है। उपनिषदों में ज्ञान अर्थात् विद्या के परा और अपरा भाग बतलाये गये हैं। अपरा विद्या कर्मप्रधान विद्या है, जिसकी फलोपलब्धि कालान्तर में होती है। परा विद्या अर्थात् श्रेष्ठ विद्या ही ब्रह्मविद्या है, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् हैं। ब्रह्मविद्या के अभाव को अविद्या या अज्ञान कहते हैं। यही अविद्या बन्धन तथा आसक्ति का कारण है।

उपनिषदों में विद्या–अविद्या, आत्मा–परमात्मा और ब्रह्म–माया के परस्पर विरोधी तत्वों को प्रस्तुत करके तर्क द्वारा अन्ततः ऐक्य स्थापित किया गया है। उपनिषदों की तर्कप्रधान

संस्कृति में इस ऐक्य समन्वयवाद का महत्वपूर्ण स्थान है। यह ऐक्य ही वेदों तथा वेदान्त विद्या का अद्वैत है, जिसके अनुसार सभी कुछ सत्तावान् है। किन्तु उस सब का एक ही परम तत्व में अधिवास है। उपनिषदों का यह ऐक्य सिद्धान्त ही वस्तुतः दार्शनिक जगत् का साम्यवाद है। उपनिषदों तथा दर्शन के इस साम्यवाद में एक वस्तु या एक जीव का दूसरी वस्तु या दूसरे जीव से इतना अधिक सामीप्य एव ऐक्य है कि उसको दो इकाइयाँ माना ही नहीं जा सकता है। इस प्रकार उपनिषदों की तार्किक संस्कृति ने अनेकता में एकता स्थापित करके जीवन की विभिन्न धाराओं को एक ही महार्णव में विलयित करने का महानतम प्रयत्न किया है।

उपनिषदों ने जिस संस्कृति को जन्म दिया उसकी महानता यही है कि उसमें समस्त मानवता के लिए समान रूप से श्रेय और हित की व्यवस्था की गयी है। वे भारत की अन्तश्चेतना के सुविचारित, श्रेष्ठतम उद्गार हैं। उनके द्वारा भारत के सांस्कृतिक अभ्युत्थान को निरन्तर चेतना मिलती रही है। उपनिषदों ने दर्शनों के तत्व–चिन्तन को जन्म दिया। दर्शन वस्तुतः उपनिषदों की तत्वविद्या के व्याख्यान हैं। उपनिषदों में सूत्र–रूप में कहे गये आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी सूक्ष्म विचारों को दर्शनों में अधिक विस्तार और गाम्भीर्य के साथ प्रतिपादित किया गया है। संसार की प्रत्येक वस्तु का एक निश्चित प्रयोजन है। इसी निश्चित प्रयोजन की खोज करते–करते जो विशेष ज्ञान प्राप्त होता है उसी को वस्तु का यथार्थ ज्ञान कहा जाता है। यह विशेष ज्ञान प्राप्ति ही विभक्त तथा क्रमबद्धरूप में संजोयी जाकर 'शास्त्र' के रूप में प्रकट होती है। शास्त्र अनेक हैं और वस्तुओं की भिन्नता भी असीमित है। ये नानाविध शास्त्र अनेकविध वस्तुओं में निश्चित प्रयोजन की क्रमबद्ध व्याख्या प्रस्तुत कर विशेष विशेष शास्त्रों के नाम से प्रचलित है। इन सभी शास्त्रों का संग्रह दर्शनशास्त्र है। दर्शनों की विचार प्रधान तात्विक संस्कृति अनेकता में एकता स्थापित कर समस्त मानवता को एक मंच पर बैठने का महान् आदर्श प्रस्तुत करती है। विश्व की प्रत्येक जाति का दर्शन उसके समग्र जीवन का प्रतिबिम्ब है। देश–काल तथा परम्परा की दृष्टि से विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के आचार–विचारों में भिन्नता होती है, किन्तु तत्वतः सम्पूर्ण मानवता के विचारों का मूल उद्गम तथा पर्यवसान एक ही लक्ष्य में निहित होता है।

महाकवि कालिदास ने रघुवंश में इसी एकता को दृष्टि में रखते हुए लिखा है– भगवती भागीरथी के भिन्न–भिन्न प्रवाहों का परम लक्ष्य एक ही समुद्र है। वे सब वहाँ पहुँच कर एक हो जाते हैं। इसी प्रकार ईश्वर–प्राप्ति के अलग–अलग शास्त्रों एवं दर्शनों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग भले ही भिन्न–भिन्न हो, किन्तु उन सब का एक ही लक्ष्य है–आत्म प्राप्ति या आत्म दर्शन–

बहुधाप्यगमार्भिन्ना। पंथानः सिद्धिहेतवः।
त्वयैव निपन्त्योधा जाह्नवीया इवर्णवे।।

भगवती भागीरथी के विभिन्न प्रवाहों की भाँति भारतीय संस्कृति अनेकानेक विचारधाराओं, सस्कारों और परम्पराओं को समाहित करती हुई अन्ततः एक ही परम लक्ष्य आत्मदर्शन, स्वयं को समझने में, पर्यवसित हो जाती है। यह आत्मोपलब्धि तभी हो सकती है, जब जीवन को भली भाँति परिमार्जित किया जाये। संस्कृति का जो मूल उद्देश्य जीवन का परिमार्जन या परिष्कार करना है, उस पर वस्तुतः दर्शनों में ही विशुद्ध बौद्धिक दृष्टि से गंभीर विचार हुआ है। दर्शनों की विचारप्रधान संस्कृति का सम्यक् स्वरुप 'गीता' में देखने को मिलता है। 'गीता' द्वारा भारतीय संस्कृति ने ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिधारा से अभिसिंचित होकर अपने सतत संजीव्य मानवीय उच्चादर्शों को प्राप्त किया। कदाचित् यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भारतीय संस्कृति में जो बौद्धिक उन्नति तथा वैचारिक उत्कर्ष हुआ वह दार्शनिक विचारधारा की ही देन है।

उपनिषदों की संख्या के संबंध में परंपरा से मत मतांतर है। इस सम्बन्ध में अब तक जो सामग्री प्रकाश में आयी है उसके आधार पर उपनिषदों की सटीक संख्या निर्धारित करना कठिन है। आचार्य शंकर (8वीं श.ई.), वाचस्पति मिश्र (7वीं श.ई.) और आचार्य रामानुज के समय तक उपनिषदों की संख्या जिनको वेद शाखाओं के रूप में माना गया है, तीस के लगभग थी। ऋक–यजुष–साम इन तीनों वेदों के मुख्य उपनिषदों के अतिरिक्त बावन आथर्वण उपनिषद् भी इसी समय संकलित हुए। यह युग ऐसा था, जब अनेक धर्म तथा सम्प्रदाय अपनी प्रतिष्ठा तथा ख्याति बढ़ाने के लिए उत्सुक थे। उनमें शैव, वैष्णव और शाक्त प्रमुख थे। इन विभिन्न धार्मिक पन्थों के आचार्यों ने अपने–अपने मतों के प्रचार–प्रसार के उद्देश्य से अनेक उपनिषदों की रचना की। इस कारण उपनिषदों की संख्या सैकड़ों तक पहुँच गयी। उसके बाद भी अनेक नये नाम इस सूची में जुड़ते गये, जिनको मिलाकर उपनिषदों की संख्या 250 तक पहुँच गयी है।

प्राचीन और आधुनिक दोनों युगों में आचार्यों और विद्वानों ने जिन उपनिषदों को एकमत से एक मत प्रदान किया है। इनका नाम है– ईश. केन, कच्छ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय व ऐतरेय। छांदोग्य, वृहदारण्यक, कौशिकी और श्वेताश्वतर। इन सभी उपनिषदों पर शंकराचार्य का भाष्य है। शंकराचार्य के अतिरिक्त रामानुज, निम्बार्क, वर्ष और माधव आदि भी सम्प्रदाय–प्रवर्तक आचार्य थे। उन्होंने सभी उपनिषदों पर अपने–अपने सिद्धांतों का मंडन करते हुए भाष्य लिखा है। उनके पूर्वाचार्यों ने भी उनके सिद्धांतों को सिद्ध करने के लिए टिप्पणियाँ और व्याख्यान दिए। उपनिषदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों का मत–मतान्तर रहा है। इसमें कोई मतभेद नहीं है कि उपनिषदों की मूल विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है। लगभग वैदिक युग में ही उनका अस्तित्व प्रकाश में आ गया था। मन्त्र संहिताओं, ब्राह्मण–ग्रन्थों और आरण्यकों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस दृष्टि से उनके रचनाकाल का समय व्यापक रूप में आंका गया है। कुछ उपनिषदों पर नितान्त पुरातन और कुछ पर बहुत बाद की परिस्थितियों का प्रभाव है।

इतिहास और पुराण का महाजनपद अंग

राजवीर सिंह

महाभारत और पौराणिक साहित्य (मत्स्य पुराण) प्रमाणित करते हैं कि 'अंग' नाम की उत्पत्ति 'राजकुमार अंग' के नाम से हुई थी, जो राज्य के संस्थापक थे। मत्स्य पुराण में इस नामधारी नायक के पिता को राक्षसों में प्रमुख (दानवर्षभ) के रूप में वर्णित किया गया है। अथर्ववेद में भी अंग का उल्लेख मिलता है। महाभारत काल में अंग कर्ण का राज्य था। चंपा नदी (आधुनिक चंदन) पश्चिम में मगध और पूर्व में अंग के बीच की सीमा बनाती थी। अंग उत्तर में कोशी नदी से घिरा हुआ था। महाभारत के अनुसार, दुर्योधन ने कर्ण को अंग का राजा घोषित किया था। इसका प्राचीन नाम मालिनी था। इसके प्रमुख नगर चम्पा (बंदरगाह), अश्वपुर थे। बौद्ध ग्रंथों अंगुत्तर निकाय में अंग और वंग को पहले आर्यों का माना गया है। इन ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है। चंपा नगर अपने समय में शिक्षा, व्यापार, और संस्कृति का प्रमुख केंद्र था। अंग की समृद्धि का मुख्य कारण इसकी व्यापारिक स्थिति थी, क्योंकि यह गंगा के किनारे स्थित था और जल मार्ग से व्यापार में सहायक था। जैन प्रज्ञापना ने अंग और वंग को आर्य लोगों के पहले समूह में स्थान दिया है। इसमें प्राचीन भारत के प्रमुख शहरों का उल्लेख है। यह व्यापार और वाणिज्य का एक बड़ा केंद्र भी था और इसके व्यापारी नियमित रूप से दूर सुवर्णभूमि तक यात्रा करते थे। बिम्बिसार के समय में अंग को मगध ने अपने कब्जे में कर लिया था। यह बिम्बिसार की एकमात्र विजय थी।

अंग एक प्राचीन भारतीय साम्राज्य था जो पूर्वी भारतीय उपमहाद्वीप में फला–फूला और सोलह महाजनपदों (बड़ा राज्य) में से एक था। यह अपने पड़ोसी और प्रतिद्वंद्वी मगध के पूर्व में स्थित है और चंपा नदी द्वारा इससे अलग किया गया था। यह महाजनपद कुलीन गणराज्यों में से एक था जो छठी से चौथी शताब्दी ईसा पूर्व तक प्राचीन भारत में मौजूद थे। उनमें से दो संभवतः 'गण' या गणराज्य थे– और अन्य में राजशाही के रूप थे। महाभारत और पौराणिक साहित्य प्रमाणित करते हैं कि अंग नाम की उत्पत्ति राज्य के संस्थापक राजकुमार अंग के नाम से हुई थी। कुछ शास्त्रों (महाभारत और कुछ पुराणों) के अनुसार, सुतपा के पुत्र वैरोचन नामक राजा बलि के कोई पुत्र नहीं था। इसलिए, उन्होंने ऋषि, दीर्घतमास से पुत्रों के साथ आशीर्वाद देने का अनुरोध किया। कहा जाता है कि ऋषि ने अपनी पत्नी, रानी सुदेष्णा के माध्यम से पाँच पुत्रों को जन्म दिया। राजकुमारों के नाम अंग, वंगा, कलिंग, सुम्हा और पुंड्रा थे। बाद में राजकुमारों ने अपने नाम पर राज्य स्थापित किए। राजकुमार वंगा ने वंगा राज्य की स्थापना की, जो वर्तमान में बांग्लादेश और पश्चिम बंगाल के हिस्से में है। राजकुमार कलिंग ने कलिंग राज्य की स्थापना की। रामायण में अंग नाम की उत्पत्ति उस स्थान के रूप में बतायी गयी है जहाँ कामदेव को शिव ने जलाकर मार डाला था और जहाँ उनके शरीर के अंग बिखरे हुए हैं। पुराणों में अंग के कई प्रारंभिक राजाओं की भी सूची है। महागोविंद सुत्तंत अंग के राजा धतरथ का उल्लेख करता है। जैन ग्रंथों में धाधिवाहन को अंगों का शासक बताया गया है। पुराण और हरिवंश उन्हें राज्य के संस्थापक संस्थापक अंग के पुत्र और तत्काल उत्तराधिकारी के रूप में दर्शाते हैं। जैन परंपराएँ उन्हें छठी शताब्दी ईसा पूर्व की शुरुआत में रखती हैं। सोलह महाजनपदों में अंग सबसे पूर्वी है। महाभारत के साक्ष्यों के आधार पर, अंगो का राज्य मोटे तौर पर वर्तमान में बिहार के अररिया, भागलपुर, बांका, पूर्णिया, मुंगेर, लखीसराय, बेगुसराय, कटिहार, किशनगंज, अररिया, सुपौल, सहरसा, खगड़िया, मधेपुरा आदि का वर्तमान क्षेत्र रहा है। वैदिक काल की स्थिति के प्रतिकूल, महाभारत के समय, अंग आर्य–सभ्यता के प्रभाव में पूर्णरूप से आ गया था और पंजाब का ही एक भाग, मद्र, इस समय आर्य संस्कृति से बहिष्कृत समझा जाता था। महाभारत के अनुसार अंगदेश की नींव राजा अंग ने डाली थी। संभवतः ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेखित अंग–वैरोचन ही अंगराज्य का संस्थापक था। कथासरित्सागर में इस बात की पुष्टि की गई है कि अंग का एक शहर विटंकपुर समुद्र के किनारे बसा था। इस प्रकार अंग की सीमाएँ पूर्व में समुद्र तक फैली हुई हो सकती हैं।

उत्तर में अंग कोशी नदी से घिरा हुआ था। चंपा शहर दक्षिणी बिहार राज्य के भागलपुर से लगभग पाँच किलोमीटर पश्चिम में स्थित चंपापुर और चंपानगर के वर्तमान गाँवों से जुड़ा हुआ है। जातक कथाओं में चंपा शहर को 'काला–चंपा' भी कहा जाता है। 'महा–जनक जातक' में कहा गया है कि यह शहर मिथिला से लगभग साठ योजन ('एक योजन' = 16.4 किमी) दूर स्थित था। प्राचीन चंपा के वास्तविक स्थल के अवशेष बिहार में भागलपुर के पास 'चंपानगर' और 'चंपापुरा' नामक दो गाँवों के नाम से आज भी मौजूद हैं। यह व्यापार और वाणिज्य का एक उल्लेखनीय केंद्र था और इसके व्यापारियों को व्यापारिक उद्देश्यों के लिए दूर सुवर्णभूमि (संभवतः दक्षिण पूर्व एशिया में) तक नौकायन करते हुए वर्णित किया गया है। चौथी शताब्दी के अंत में अपनी तीर्थयात्रा के दौरान, चीनी भिक्षु फाहियान ने देखा कि शहर में अभी भी कई बौद्ध मंदिर मौजूद हैं। जिसका चीनी में लिप्यंतरण चानपो है। तब तक अंग राज्य का अस्तित्व समाप्त हो चुका था, इसे चीनी में यांगजिया के नाम से जाना जाता था। 'गरुड़ पुराण', 'विष्णु धर्मोत्तर' और 'मार्कंडेय पुराण' जैसे पौराणिक ग्रंथ प्राचीन जनपद क्षितिज को नौ प्रभागों में विभाजित करते हैं और अंग, कलिंग, वंग, पुंड्र या पुंड्रू साम्राज्य (अब कुछ भाग) के जनपदों को रखते हैं।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

भारतीय परंपरा में वेद और वैदिक संस्कृति

गोविंद चंद्र पाण्डे भारतीय दर्शन, संस्कृति और इतिहास के प्रतिष्ठित विद्वान थे। उनकी पुस्तक 'वैदिक संस्कृति' वेदों के धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करती है। यह ग्रंथ वेदों के मूल विचारों, उनके सामाजिक प्रभावों और सांस्कृतिक धरोहरों को समझने का प्रयास करता है। इसमें वेदों– ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का सारगर्भित परिचय दिया गया है। लेखक ने वेदों के ऐतिहासिक विकास और उनके विभिन्न संहिताओं, ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यकों और उपनिषदों पर विस्तार से चर्चा की है। गोविंद चंद्र पाण्डे ने वैदिक धर्म के मूलभूत सिद्धांतों का गहन अध्ययन किया है। उन्होंने देवताओं की पूजा, यज्ञ परंपरा और वैदिक ऋचाओं के दार्शनिक मूल्यों का विश्लेषण किया है। इस संदर्भ में ऋग्वैदिक देवताओं इंद्र, वरुण, अग्नि, सोम आदि की भूमिका और उनके प्रतीकात्मक महत्व पर चर्चा की गई है। पुस्तक में वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था और परिवार व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है।

यह दिखाया गया है कि वैदिक समाज में शिक्षा, नीति और आचार संहिता का महत्वपूर्ण स्थान था। साथ ही, महिलाओं की स्थिति, विवाह पद्धति और आर्थिक संरचना का भी उल्लेख किया गया है। वैदिक संस्कृति में यज्ञों का विशेष महत्व था। पुस्तक में सोमयज्ञ, अश्वमेध यज्ञ, राजसूय यज्ञ आदि की व्याख्या करते हुए इनके दार्शनिक और सामाजिक प्रभावों पर चर्चा की गई है। वैदिक युग में खगोलशास्त्र, गणित, आयुर्वेद और चिकित्सा विज्ञान में कितनी उन्नति हुई थी। ऋग्वेद और यजुर्वेद में वर्णित खगोलीय घटनाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। यह पुस्तक न केवल वेदों का सार प्रस्तुत करती है, बल्कि उनके सांस्कृतिक और दार्शनिक प्रभावों को भी गहराई से समझाती है। लेखक का दृष्टिकोण ऐतिहासिक, विश्लेषणात्मक और तर्कसंगत है, जिससे वैदिक संस्कृति को आधुनिक संदर्भ में भी समझा जा सकता है। कुछ स्थानों पर वैदिक संस्कृति के प्रभावों पर अधिक गहराई से चर्चा की जा सकती थी, लेकिन संक्षेप में भी पुस्तक विषय को अच्छे से समेटती है। वैदिक संस्कृति एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो वैदिक युग की सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक धरोहर को समग्र रूप से प्रस्तुत करता है। यह पुस्तक उन पाठकों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है जो भारतीय संस्कृति, दर्शन और इतिहास में रुचि रखते हैं। गोविंद चंद्र पाण्डे का यह अध्ययन वैदिक परंपरा को आधुनिक दृष्टिकोण से देखने और समझने का एक सशक्त माध्यम प्रदान करता है। भारतीय परम्परा में वेद को अनादि अथवा ईश्वरीय माना गया है। इतिहास और

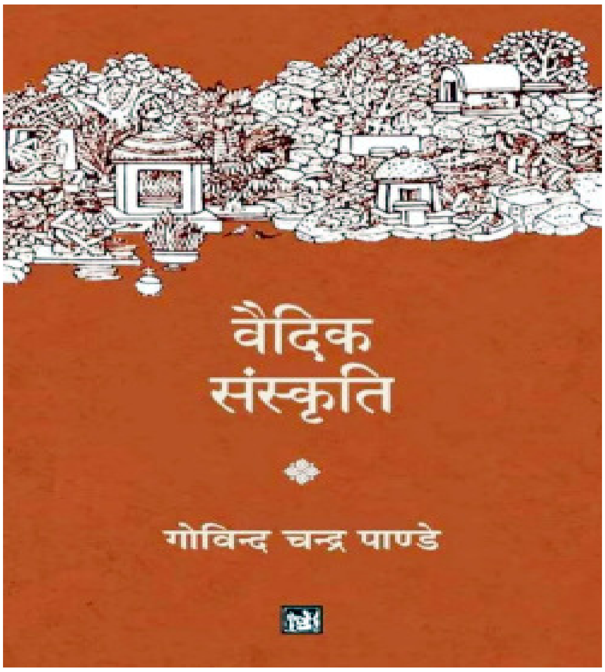

संस्कृति के विद्यार्थियों के लिए इनमें भारतीय एवं आद्यमानव परम्परा की निधि है। महर्षि यास्क से लेकर सायण तक वेद के पण्डितों ने इनके अनेक अर्थ निकाले हैं, जिसके कारण वेदों की सही व्याख्या कठिन है। आधुनिक युग में वेदों पर जो भी प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे गए हैं उनमें इतिहास की दृष्टि से व्याख्या भले ही की गई हो लेकिन आध्यात्मिक और सनातन अर्थ उपेक्षित हैं। पुराने भाषाशास्त्रीय व्याख्या के स्थान पर नई पुरातात्विक खोज के द्वारा वेदों का जो इतिहास पक्ष बदला है उसका मूल्यांकन भी यहाँ किया गया है। इस पुस्तक में न केवल मैक्समूलर आदि को नई व्याख्याएँ एवं सायण आदि की यज्ञपरक व्याख्या पर, बल्कि दयानन्द, श्रीअरविन्द, मधुसूदन ओझा आदि की संकेतपरक व्याख्या पर भी विचार किया गया है। वैदिक संस्कृति की परिभाषा करने वाले ऋत–सत्यात्मक सूत्रों की विवेचना एवं किस प्रकार वे भारतीय सभ्यता के इतिहास में प्रकट हुए हैं इस पर भी चिन्तन किया गया है। वैदिक संस्कृति, धर्म, दर्शन और विज्ञान की अधुनातन–सामग्री के विश्लेषण में आधुनिक पाश्चात्य एवं पारम्परिक दोनों प्रकार की व्याख्याओं की समन्वित समीक्षा इस पुस्तक में की गई है। इस प्रकार तत्व जिज्ञासा और ऐतिहासिकता के समन्त्रयन के द्वारा सर्वाङ्गीणता की उपलब्धि का प्रयास इस ग्रन्थ की विचार शैली का मूलमन्त्र और प्रणयन का उद्देश्य है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा नि:शुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com